विक्रम संवाद

पाक्षिक आलेख सेवा/नि:शुल्क वितरण के लिए

सम्पादक
महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ
बिड़ला भवन, देवास रोड, उज्जैन-456010
फोन : 0734-2521499, 0755-2660407
Email : mvspujjain@gmail.com
vikramadityashodhpeeth@gmail.com
Web : www.mvspujjain.com

इस अंक में

पृष्ठ क्र. 1-2
वैदिक चिंतन में सौंदर्य व दार्शनिक तत्व
मनमोहन शर्मा

पृष्ठ क्र. 3-4
धार्मिक निष्ठा के उज्ज्वल प्रतीक लयण मंदिर
चंद्रशेखर वर्मा

पृष्ठ क्र. 5-6
भारतीय कर प्रणाली की अनवरत परंपरा
डॉ. अविनाश

पृष्ठ क्र. 7
प्राचीन उज्जयिनी का शैक्षणिक परिवेश
गोपाल माथुर

पृष्ठ क्र. 8
हिन्दू धर्म के इतिहास पर एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ
मिथिलेश यादव

वैदिक चिंतन में सौंदर्य व दार्शनिक तत्व

मनमोहन शर्मा

वैदिक साहित्य में सौदर्य शब्द के बजाय उसके अर्थवाची अनेकानेक शब्द उपलब्ध है, यद्यपि प्रारंभिक वैदिक साहित्य में सुंदर और सौंदर्य जैसे शब्दों का अभाव है परंतु वहाँ आनंद, मोद, आमोद, मुद, प्रमोद, प्रिय आदि शब्द सौंदर्यानुभूति की ओर संकेत करते हैं। सुंदर और सौंदर्य जैसे शब्दों के न मिलने का कारण यह है कि वैदिक ऋषि ने उस सौंदर्य को कभी मान्यता नहीं दी जिसमें शुचि, शुभ और भद्र का समन्वय न हो। इसलिए सौंदर्य की व्याख्या उसके लिए सदैव व्यापक अर्थ में ही रही। उसने सौंदर्य को ज्योति (प्रकाश) के रूप में देखा है जो स्वयं प्रकाशमान तो है ही, दूसरों को भी प्रकाशित करने की क्षमता रखती है। उसके दर्शन से मन में पवित्रता, शुभ्रता, सत्य, शिव और भद्र भावो को निष्पत्ति होती है। सौंदर्य के इस व्यापक अर्थबोधी दृष्टिकोण के अनुसार वैदिक साहित्य में सौंदर्य के लिए अनेक शब्द औम प्रतीक उपलब्ध है। ऋग्वेद में प्रयुक्त ऐसे शब्दों की एक लंबी तालिका है जैसे– दशा आपत, वपु, रूप, लावण्य, बल्गु, त्रिय, भद्र, चारु, प्रिय, शुभ, कल्याण, अद्‌भुत आदि–आदि। पेशस अलंकृत और विशेष आकर्षक परिधान है, लेकिन इसके साथ विश्वपेशस, हिरण्यपेशस व सहस्रपेशस आदि शब्द भी प्राप्त हैं। इन पर विचार करने से ज्ञात होता है कि ये पेशस के विभिन्न प्रकार नहीं, बल्कि पेशस के सदर से सुंदरतम रूप के अभिव्यंजनापरक शब्द है। विश्वपेशस शब्द से जैसा प्रतिध्वनित होता है, वह विश्व व्यापक सौंदर्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार सहस्रपेशस शब्द सौदर्य के परमपूर्ण आदर्श रूप के लिए प्रयुक्त हुआ है।

यास्क ने हिरण्यपेशस को आदर्शात्मक आनंद, आत्मा और अर्थ का समन्वय सूचक शब्द माना है। अप्स सौंदर्यवाची शब्द के रूप में विषयगत सौदर्य का सूचक है। वपुः शब्द उदात्त के अर्थ की अभिव्यंजना करता है, जिसमें आदर व भय की समन्वित अवस्था, जीवन का आध्यात्मदर्शन तथा सत् की अनुभूति या ज्ञान का अर्थबोध होता है। यक्ष शब्द भी उदात्त के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जिसमें विरोधी भावों के उद्‌भव तथा विषय–बोध का अर्थ निहित है। रूए बहुचर्चित शब्द है जो मात्र आकार ही नहीं, बल्कि उससे भी आगे सौंदर्य की व्यापकता को अभिव्यजित करता है। लावण्य शब्द मानव शरीर अथवा अंतर्बाह्य अवस्था का सौंदर्यबोधी है। सौंदर्य को मानव से संबंधित माना गया है और लावण्य को देवताओं से। चारु– चारुता और सुंदर से भी बढ़कर जो सौंदर्य है वह लावण्य है, जिसे डॉ. राधाकमल मुखर्जी अध्यात्म–सौंदर्य या दिव्य–सौंदर्य बताते है। मरुत को शुभ और अश्विन–दूय को शुभस्पति शब्दों से अलंकृत किया गया है। शुभ और शुभस्पति पवित्रता के द्योतक शब्द है। अतः इन शब्दों द्वारा आंतरिक व बाह्य सौंदर्य के समन्वित अर्थ की भी अभिव्यक्ति की गयी है। अश्विन सौंदर्य के प्रेमी हैं इसीलिए वे शुभस्पति है। सौंदर्यवाची पदों के संदर्भ में शतपथ ब्राह्मण में एक महत्वपूर्ण उल्लेख है कि सृष्टि के स्रष्टा देवशिल्पी प्रजापति ने अपनी आत्मा से सोलह कलामय पुरुषों को उत्पन्न किया या स्वयं को इन सोलह कलाओं में व्यक्त किया। ये सोलह कलामय पुरुष जैमिनि ब्राह्मण के अनुसार भद्रम्, संपत्ति, आभूति, संभूति, भूत, सर्व, रूप, अपरिमित, श्री, यश, नाम, अग्न, सजाता, पयस, महीय व रस है। ये सभी सोलह कलाएँ वही है जो वैदिक पदावली के सौंदर्यबोधी शब्द है। इन शब्दों के अर्थ एक नहीं बल्कि भिन्न–भिन्न है। ये भिन अर्थ आर्यों के सौंदर्य विषयक ज्ञान का विशद परिचय देते हैं।

इस सौंदर्यवाची पदावली के उपरांत वैदिक आर्यों की सौंदर्य विषयक मान्यताओं और मानदंडों पर विचार करने से ज्ञात होता है कि आर्यों ने सौंदर्य के आदर्श रूप देवों में देखे हैं। वैदिक ऋषि ने अपने आप–पास जिस सौंदर्य के दर्शन किये, जिस आभा, ज्योति या प्रकाश ने उसकी आँखों को आकृष्ट किया, जिस लावण्य ने उसके हृदय को पुलकित किया, उस सब को उसने समन्वित कर उसे

देवों को श्रेष्ठतम सत्ता के रूप में परिकल्पित किया और उससे स्वयं सौंदर्यानुभूति की। ऋग्वेद का हिरण्यगर्भा अद्वितीय प्रकाशयुक्त, दैदीप्यमान, सर्वांग–सुंदर, सर्वशक्तिमान, अत्यत रम्य–रूपवान देव है, जो सौंदर्य का परम आदर्श है। यही हिरण्यगर्भा देव उपनिषदों का परमब्रह्म है, जो सत (सत्य), चित (चेतना) और आनंद (रस) युक्त सच्चिदानंद स्वरूप है। सौंदर्य को ईश्वरीय शक्ति से सम्बद्ध मानने से उसमें नैतिकता, मंगल अथवा विशुद्धिकरण आदि की भावनाओं का समिश्रण हो गया है। इसीलिए हैवेल का कथन है कि भारतीय दृष्टि सप्रयास

सुंदर की खोज नहीं करती, बल्कि उसका मुख्य प्रयास ऐसे वैचारिक स्तर को पा लेने का रहता है जहाँ वह सीमित के माध्यम से असीम को पा सके और भौतिक सौंदर्य की मूलधारा को आध्यात्मिक सौंदर्य की धारा में प्रवाहमान सिद्ध कर सके।

सोम वैदिक सौंदर्य अवधारणा की एक विशिष्ट उपलब्धि है। जिस तत्व से सुखद अनुभूति प्राप्त को गयी यो सु या सुम कहा गया। यही सुम सोम है, रस है। यथा पिंड तथा ब्राशंड के समीकरण से सोम जो ब्रांड में व्याप्त है, ज्योति, सौंदर्य और आनंद का संबंध उसी ब्राह्मांडीय सोम तत्व से है, याही सोम जीवन का रस है जो शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक निर्मलता, प्रसन्नता व शांति प्रदान करता है। इस प्रकार सोम मानव के अत करण की ज्योति सौंदर्य की आत्मा से भी संबंधित है। शतपथ ब्राह्मण ने 'श्रीवै सोमा' कहकर सोम को सौंदर्य का हेतु, सोम को ही विष्णु (वर्धनशील), सोम को ही राजा चंद्रमा बतलाया है। चंद्रमा के पर्याय रूप में सोम की प्रस्थापना का कारण उसकी ज्योति व अहलादकारिणी शक्ति है। सौंदर्य केवल अनुभूति में नहीं, अपितु सृष्टि में भी है, क्योंकि अनुभूति की भावना सृष्टि में उतरती रहती है। इसीलिए सोम को 'प्राणौ वै सोमः' कहा गया है अर्थात, सोम ही प्राण तत्व है। कला की साधना में प्राण की प्रतिष्ठा अनिवार्य है। इसी प्राण तत्व को शिल्प के साथ सम्बद्ध कर देखा गया है। प्राण आत्मा की सत्ता का सूचक है और कला आत्म संस्कृति की। यही कारण है कि कला की साधना और आनंद की साधना एक ही मानी जाती है। इस प्रकार वैदिक सौंदर्य–चिंतन का बिंदु प्रकाश रहा है। यही प्रकाश उपनिषद् के सौंदर्य चिंतन में आनंद है। आनंद ही सौंदर्य की दार्शनिक संज्ञा है। ऋतम् और सत्यम् से अनुस्यूत इस परम सौंदर्य तत्व की साधना, उसे रूपायित करना ही कला है। अतः सौंदर्य की सृष्टि ही कला की सृष्टि है और कला की सृष्टि ही सौंदर्य की सृष्टि है।

वैदिक कवि की सौंदर्याभिरुचि के दर्शन उन काव्य–स्थलों पर किये जा सकते है जहाँ उसने प्रकृति की सुषमा और नारी के सौंदर्य का वर्णन किया है। प्राकृति सुषमा और नारी सौंदर्य वैदिक मानव के लिए आकर्षण का मुख्य केंद्र रहा। मानव और प्रकृति के बीच एक ऐसा संबंध है कि प्रकृति अपना रूप बदल कर उसके शरीर और मन में प्रवेश कर चुकी है। प्रकृति का तो अदृश्य और आध्यात्मिक साम्राज्य से घनिष्ठ संबंध है। जीवन की एकता और निरवरता तथा प्रकृति और लय एकरूप होकर एक ऐसी दृष्टि का निर्माण करते हैं जिसमें सृष्टि के सभी चर–अचर, जड़ और चेतन पदार्थ कला–सृष्टि के अंतर्गत आ जाते हैं। प्राकृति सुषमा को उसने मानवीकृत कर अनेक स्थल पर नारी के कमनीय रूप में चित्रित किया है। उषा की भुवनव्यापी प्रकृति सुषमा को वैदिक कवि ने मानवीक्त कर अत्यंत कमनीय सौंदर्यमयी तरुणी, ज्योति के शुभ्र रंग–बिरंगे परिधान और अलंकरणों से परिवेष्ठित नृत्यांगना की भाँति अपने वक्षस्थलों को अनावृत कर अपने आकर्षक सौंदर्य को प्रदर्शित करती हुई, पूर्व दिशा से धरती–अंबर में प्रकाश बिखराते हुए दिखाया है। उसको सुडौल गुलाबो और आभायुक्त बाहुओं का, उसकी दैदीप्यमान देह–काति और उसे प्रकाश से सद्यः स्नात बताकर उसे श्रेष्ठतम रूप में प्रस्तुत किया है। उषा का यह सौंदर्य वर्णन वैदिक काल की सबसे मनोरम कल्पना है।

विश्व के किसी साहित्य में उषा से अधिक आकर्षक नारी–सौंदर्य का चित्रण नहीं मिलता। नारी के कमनीय सौंदर्य को नयन–म्य झाँकी उर्वशी, राका, सिनीवालो, कुहू आदि देवियों के रूप में देखी जा सकती है। वैदिक कवि की दृष्टि नारी–सौंदर्य के चित्रण में अति पटु लगती है। उसने नारी–सौंदर्य को सम्पन्नता के अभिसूचनार्थ अनेकानेक विशेषणों का प्रयोग किया है। सुंदर वेणी वाली युवती को सुकपर्दा, चार वेणियों वाली को चतुष्कपर्दा, सुदर कुरीर (कानों के बाले या माथे का टीका) धारण किये हुए युवती को सुकुरीरा, ओपश (मस्तक पर या बालों पर बाँधे जाने वाले अलंकरण) से सुसज्जित युवती को स्वौपशा कहकर उसने उसकी रूप–श्री की अनूठी प्रशंसा की है। इतना ही नहीं उसकी दृष्टि उसकी मुस्कान पर भी गयी है। प्राकृतिक–सौंदर्य का पुजारी वैदिक कवि प्राकृतिक–सौंदर्य में दर्शकत्व की प्राण–प्रतिष्ठा करने में भी निपुण है।

धार्मिक निष्ठा के उज्ज्वल प्रतीक लयण मंदिर

चंद्रशेखर वर्मा

भवन–निर्माण एवं शिल्प–विज्ञान का नाम वास्तु–कला है। उसका विकास मानव सभ्यता के विकास के साथ हुआ, ऐसी कल्पना स्वभावतः की जा सकती है। संसार के प्राणिमात्र में आत्मरक्षा और सुख–साधन का भाव नैसर्गिक रूप में पाया जाता है। हम देखते हैं कि पक्षी घोंसले बनाते हैं, चूहे आदि

बिल खोद लेते हैं और दीमक भोटे बनाती हैं। इस प्रकार बुद्धि–शून्य कहे जाने वाले जीव–जन्तुओं, पशु–पक्षियों में भी आत्मरक्षा के लिए सुन्दर से सुन्दर कलापूर्ण निवास बनाने की भावना पायी जाती है, तो यह कल्पना स्वाभाविक है कि मानव में यह भावना, यह आकांक्षा और भी तीव्र रही होगी। उसने अपने जन्म के साथ ही सर्दी, गर्मी, बरसात, धूप आदि अनेक प्रकार की प्राकृतिक असुविधाओं से अपनी रक्षा की आवश्यकता का अनुभव किया होगा और उसी दिन वास्तु–कला का जन्म हुआ होगा।

मनुष्य का आरम्भिक जीवन अस्थिर था। वह एक स्थान से दूसरे स्थान घूमता, शिकार करता, गाय चराता और विचरण करता रहा। ऐसी अवस्था में उसने अपने चारों ओर रहने वाले पक्षियों की देखा–देखी अपने लिए घास–फूल की अस्थायी झोपड़ियाँ बनायी होंगीय पश्चात् धीरे–धीरे उसने स्थायी एवं सुदृढ़ निवास बनाने की ओर ध्यान दिया होगा। सम्भव है कि मनुष्य ने अपने निवास में पशुओं का भी अनुकरण किया हो और अपने रहने के लिए भूमि में माँद बनाये हों और पर्वतों की गुफाओं और कन्दराओं की शरण ली हो। यह बातें उस काल की हैं जिसे मानव सभ्यता का आदिकाल कहा जा सकता है। यह अवस्था सम्भवतः आज से दस–बारह हजार वर्ष पूर्व तक रही होगी। उसके बाद निवास ने सुदृढ़ रूप लिया और धीरे–धीरे सामूहिक निवास का रूप धारण करते–करते वह नगर के रूप में परिवर्तित हुआ। सभ्यता के विकास के साथ–साथ नगर की आवश्यकता और उपयोगिता के विस्तार ने सुचारु निर्माण की भावना को उद्दीप्त किया और मनुष्य ने उसे वैज्ञानिक रूप दियाय पश्चात् उसने अपनी प्रत्येक आवश्यकता के लिए अनेक प्रकार के स्वतन्त्र भवनों का निर्माण किया और उनकी वास्तु–कला ने स्वतन्त्र रूप धारण किया। संक्षेप में वास्तुकला का क्रम–विकास यही है जिसे विश्व के इतिहास के साथ सम्बद्ध कर सकते हैं। मन्दिर मुख्यतम धार्मिक वास्तु है जिसे हम भारतीय वास्तु की एकमात्र विभूति कहें तो भी अत्युक्ति न होगी। उसमें हमें भारतीय वास्तुकला का उत्कृष्ट विकास देखने को मिलता है। इसका विकास भारत के किसी विशेष धर्म से नहीं वरन् मनुष्य में आकृति–पूजा की भावना से हुआ है। मनुष्य ने ईश्वर, देवता अथवा महापुरुष को उपासना के लिए जो मूर्ति अथवा लांछन बनाये, उन्हें उसने समय–क्रम के अनुसार पवित्र भवनों में स्थापित किया। ये भवन विभिन्न रूपों और आकारों में विकसित हुए। नाना रूपों में इनके विकसित होने का कारण है– सामग्री का उपयोग एवं धार्मिक भावना, कृत्य और विश्वास। इनके विकास का जो भी कारण रहा हो, यह निर्विवाद है कि भारत के सभी मतों और धर्मावलम्बियों ने इन्हें अपनाया है। मन्दिरों के उद्‌भव और विकास का इतिहास काफी ऊहापोह के बाद भी तिमिराच्छन्न ही है। वैदिक साहित्य में यद्यपि मूर्तियों का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं है तथापि अग्नि, इन्द्र, सविता, सूर्य, वरुण, विष्णु आदि देवताओं और अदिति, पृथ्वी, श्री, अम्बिका आदि देवियों की उपासना का उल्लेख हुआ है। इनका विकास चाहे प्रकृति की शक्तियों के मूर्तन के रूप में हुआ हो अथवा वे वीर–पूजा से विकसित हुए हों, जिस रूप में इनका वर्णन उपलब्ध है उनसे अनुमान होता है कि उनकी मूर्तियाँ किसी न किसी रूप में अवश्य बनायी जाती रही होंगी। कुछ विद्वानों ने वैदिक–काल में मूर्तियों के अस्तित्व के प्रति अपना विश्वास प्रकट किया है। ऋग्वेद की एक ऋचा में मेरे इन्द्र को कौन मोल लेगा? (क इमं दशभिर्मम इन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः) उल्लेख है। जिस प्रकार भारहुत के अभिलेखों में बोधि–वृक्ष और पादुका को

बुद्ध (भगवतो) कहा गया है, उसी प्रकार सम्भव है यहाँ 'इन्द्र' से ऐसे ही किसी प्रतीक की ओर संकेत हो। किन्तु इतने ही से मूर्ति के अस्तित्व की कल्पना उचित नहीं जान पड़ती। सायण ने अग्नि का उल्लेख स्वर्णपुरुष के रूप में किया है। लोगों का अनुमान है कि यह मानव–आकृति उस सुवर्ण–टीकरे सरीखी रही होगी, जो लौरियानन्दगढ़ के उत्खनन में मिली थी और जिसके पृथ्वी के प्रतीक होने की कल्पना की जाती है। दक्षिणी पठार के पश्चिमी भाग में चालुक्यों के पश्चात् 753 ई. के लगभग राष्ट्रकूट नामक एक नये राजवंश ने अपना राज्य स्थापित किया और मालखेड को अपनी राजधानी बनाया। इस वंश के शासक पूर्ववर्ती शासकों की तरह वास्तुप्रेमी तो न थे तथापि इस वंश के राजा कृष्ण द्वितीय (757–783 ई.) ने वैरूल (एलोरा) को लयण (गुफा) श्रृखंला के क्रम में एक ऐसे वास्तु (लयण संख्या 16.) का निर्माण कराया जिसकी गणना आज संसार की आश्चर्यजनक कृतियों में की जाती है। यह कृति कैलास मन्दिर अथवा रंगनाथ के नाम से प्रख्यात है। इसका रूप वैरूल–श्रृंखला के समस्त लयण मन्दिरों से सर्वधा भिन्न है। यह पर्वत कोरकर बनाया गया प्रस्तरविद्ध लयण न होकर चालुक्य–शैली के चौत्य– मन्दिरों का प्रतिरूप हैय उसे मूर्ति–निर्माण शैली में पर्वत को बाहर से काट और भीतर से कोर और गढ़घ्कर रूपायित किया गया है।

इस प्रकार के मन्दिर रूपायित करने का कार्य बहुत पहले मामल्ल ने मामल्लपुरम् में किया था और वहाँ उन्होंने इस ढंग के रथ बनवाये थे। मामल्लपुरम् के रथों का निर्माण समुद्रतट पर पड़ी उन्मुक्त चट्टानों को काट–कोरकर किया गया था और वे छोटे आकार के हैं। राष्ट्रकूट–नरेश ने इस मन्दिर में इसी शैली का अनुकरण किया है किन्तु उसके मूर्तन का ढंग सर्वचा भिन्न और अनोखा है। वैरूल (एलोरा) में बौद्ध–लयणों के क्रम में ही ब्राह्मण धर्म से सम्बन्धित 16 लयण हैं। वे बौद्ध तीनताल लयण के उत्तर में हटकर आरम्भ होते हैं और वे सभी बदामी के लयणों के बाद के अर्थात् छठी शती के अन्त और आठवीं शती के प्रथम चरण के बीच बने अनुमान किये जाते हैं। भू–योजना और वास्तु–विन्यास में वे औरंगाबाद तथा अजिण्ठा के परवर्ती लयणों से काफी सादृश्य रखते हैं अतः समझा जाता है कि उनमें से अधिकांश सातवीं शती के मध्य में बने होंगे। इन लयणों में दशावतार, रावण की खाई, रामेश्वर और सीता की नहानी विशेष उल्लेखनीय हैं। भू–संयोजन की दृष्टि से ये लयण तीन प्रकार के हैं। पहले प्रकार के लयण का उदाहरण दशावतार लयण है। इसमें सामने की ओर चट्टानों को काटकर चौकोर आँगन का रूप दिया गया है। वैरूल के दूसरे प्रकार के ब्राह्मण लयण मूलतः उपर्युक्त ढंग के ही हैं। उनमें मुख्य अन्तर यह है कि गर्भ गृह के चारों ओर प्रदक्षिणा–पथ कटा है जिससे वह भी मण्डप का ही अंग बन गया है। इस ढंग के लयणों में रावण की खाई और रामेश्वर लयण हैं। इनमें रामेश्वर लयण विशेष उल्लेखनीय है। मन्दिर के अगल–बगल परदे की तरह पर्वत की खड़ी दीवारें हैं और सामने की ओर भी एक दीवार है जिसमें से प्रवेश करने के लिए द्वार बनाया गया है। इस प्रकार मन्दिर एक प्राकृतिक प्राचीर से घिरा हुआ है। इस ढंग से पर्वत काटने की कल्पना अपने–आपमें अद्भुत है। अगल–बगल के पर्वतीय परदे पर विष्णु के अवतारों के चित्र उत्कीर्ण किये गये हैं और सामने के पर्दे पर दिग्पालों के चित्र उत्खनित हैं। इस प्राचीर के भीतर खुली जगह के बीच कैलास मन्दिर स्थित है अर्थात् मन्दिर के चारों ओर आँगन बनाने के लिए समूचे पर्वतांश को खोद डाला गया है। जो निश्चय ही नीरस और श्रमसाध्य काम रहा होगा और अकेले इस काम में असंख्य कारीगर लगे रहे होंगे। आँगन के बीच मन्दिर को चौड़ी जगह में शिख से नख तक कोरा और काटा गया है। यह मन्दिर चालुक्य–शैली में बना पापनाथ मन्दिर की अनुकृति–सा है और एक काफी ऊँचे जगतीपीठ पर स्थित है, जिस पर सामने की ओर शिव–पार्वती सहित कैलास पर्वत को उठाये हुए रावण का उच्चित्रण है। इस उच्चित्रण के कारण ही इसे कैलास मन्दिर का नाम दिया गया है।

इस जगती के चारों ओर की पट्टी में असंख्य सिंह और हाथी की पाँत उत्कीर्ण की गयी हैं जो जन्तु–जगत् की विविध भाव–भंगिमाओं को उनके स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत करती हैं। लयण मन्दिरों का वास्तविक विकास बहुत पीछे दक्षिण भारत के पूर्वी और पश्चिमी प्रदेशों में देखने में आता है। पूर्वी तट पर इन लयों का बनना सातवीं शती के प्रथम चरण में पल्लव नरेश प्रथम महेन्द्रवर्मन के समय आरम्भ हुआ और वे कुछ काल तक उसके उत्तराधिकारियों के समय भी बनते रहे। ये लयण पल्लव और कुछ सीमा तक चोल प्रदेश तक ही सीमित हैं और उनके देखने से ऐसा जान पड़ता है कि वे एक प्रकार के प्रयोगमात्र थे। कदाचित् इस प्रकार की वास्तु–कला वहाँ के तक्षकों के लिए सर्वधा नवीन थी। ये लयण मात्र स्तम्भयुक्त मण्डप और गर्भ–गृह हैं। इनमें गर्भ गृह या तो मण्डप के पीछे है या उसकी बगल में। जिन लयणों में मण्डप उत्तर अथवा दक्षिणमुखी हैं उनमें गर्भ–गृह मण्डप की बगल में पूर्व अथवा पश्चिममुखी बनाया गया है। पश्चिमाभिमुख मण्डपों वाले लयणों में गर्भ–गृह पीछे की ओर है। किन्हीं किन्हीं लयणों में मण्डप, महामण्डप और अर्ध–मण्डप दो भागों में बँटे दिखायी पड़ते हैं। महामण्डप के सामने चार, छः अथवा आठ स्तम्भ और अर्थ–स्तम्भ की पाँत पायी जाती है। इनमें किनारे के दो अर्धस्तम्भ और शेष मन्दिर से अलग एक नन्दि–मण्डप है और आँगन में दो ध्वज स्तम्भ हैं। मन्दिर के पार्श्व में लयण–परम्परा का एक स्वतन्त्र वास्तु है जो लंकेश्वर मन्दिर कहा जाता है। इसका सामना कैलास–मन्दिर के आँगन के भीतर है जिसके कारण ही यह इस मन्दिर का अंग माना जाता है और समझा जाता है कि वह उसी काल में बना होगा। यह दुतल्ला मण्डप है, जिसका निचला ताल सामने है। उसके भीतर चौदह स्तम्भ हैं। दूसरे ताल में पहुँचने के लिए इसके बायें भाग में सोपान बना है। ऊपरवाला ताल पर भी चौकोर मण्डप है। उसमें चौरासी स्तम्भ हैं। इस मण्डप में शैव, शाक्त और वैष्णव मूर्तियाँ उत्खनित हैं।

भारतीय कर प्रणाली की अनवरत परंपरा

डॉ. अविनाश

मनुष्य जाति के इतिहास मे बहुत बाद में चलकर शासन ने राजस्ववृद्धि के लिए करों का आश्रय लिया था, विशेषकर ऐसे करों का जो उचित रूप से लगाए जाते थे और जिनके सम्बन्ध में शासित जनों की सहमति ले ली जाती थी। शताब्दियों तक सार्वजनिक क्षेत्रों से ही मुख्य रूप से राजस्व का संकलन किया जाता था जिसमें घरेलू उपभोग की वस्तुओं पर लगाए गए उत्पादन शुल्क और विदेशी व्यापार पर लगाए गए सीमाशुल्क का स्थान मुख्य था। दास, अधीनस्थ, किसान, विजित तथा अन्य विशेषाधिकार रहित लोगों का यह कर्तव्य माना जाता था कि वे शासकीय वर्ग के लोगों का शुल्क आदि से पोषण करें। करों को दासता के बंधन के रूप में नहीं, अपितु स्वातंर्त्य के चिह्न के रूप में मान्यता देना आधुनिक युग की बात है। प्राचीन काल में राज्य अपने आन्तरिक और बाह्य सुरक्षा के लिए भी कर्मचारियों की श्रृंखला रहती थी।

शासन संचालन के लिए जगह–जगह कोर्ट कचहरियों की स्थापना आवश्यक थी। उनकी सुरक्षा के लिए दुर्ग निर्माण तथा जनकल्याण के लिए सीमित स्तर पर ही कुआँ, बावली, सराय, व्यापार के लिए पथ निर्माण, घाटों की सुरक्षा के लिए रक्षकों की प्रतिनियुक्ति इत्यदि आवश्यक थी। इसके अतिरिक्त दुर्भिक्ष बाढ़ महामारी इत्यदि की समस्या से भी न्यूनाधिक रुप में राज्यों को जूझना पड़ता था। साथ ही सबसे बड़ी आशंका आन्तरिक विद्रोह और बाह्य आक्रमण से रहा करता था। उसके लिए पर्याप्त शक्ति का संगठन और सशक्तिकरण की आवश्यकता महसूस होती थी। इन सब के लिए आय की आवश्यकता थी, चाहे वह आयु धातु, मुद्रा या वस्तु संचयन के ही रुप में क्यों न हो। भारत में प्राचीन काल से वर्तमान प्रत्यक्ष कर प्रणाली किसी न किसी रूप में चलती आ रही है।

मनुस्मृति और अर्थशास्त्र दोनों में अनेक प्रकार के करों के संदर्भ मिलते है। मनु ने कहा है कि शास्त्रों के अनुसार राजा कर लगा सकता है। उन्होंने सलाह दी थी कि करों का संबंध, प्रजा की आय तथा व्यय से होना चाहिए। मनु ने अत्यधिक कराधान के प्रति राजा को आगाह किया है कि दोनों चरम सीमाओं अर्थात् करों के पूर्ण अभाव और हद से अधिक कराधान से बचना चाहिए। उसके अनुसार, राजा को करों की वसूली की ऐसी व्यावस्था करनी चाहिए कि प्रजा करों की अदायगी करते समय कठिनाई महसूस न करें। व्यापारियों तथा कारीगरों को चाँदी और सोने के व्यापार में होने वाले अपने लाभ का पाँचवां हिस्सा और किसानों को अपनी उपज का छठा, आठवां या दसवां हिस्सा, अपनी हालात के आधार पर, कर के रूप में भुगतान करना चाहिए। योऽरक्षन्बलिमादत्ते करं शुल्कं च पर्थिवः। प्रतिभाग च दण्ड च सः सद्यो नरक व्रजेत्य (मनु स्मृति 8.307) जो राजा प्रजा की रक्षा न करता हुआ, प्रजा से अन्न का छठा भाग, कर तथा शुल्क (चुंगी) आदि और दण्ड के भाग को ग्रहण करता है वह राजा शीघ्र ही दुर्गति को प्राप्त हो नरक में जाता है।

मनु द्वारा इस विषय पर दिए गए विस्तृत विश्लेषण से स्पष्ट है कि प्राचीन समय में भी एक सुनियोजित कराधान प्रणाली अस्तित्व में थी। केवल यही नहीं, अभिनेताओं, नर्तकों व गायकों जैसे विभिन्न वर्गों के लोगों पर भी कर लगाए जाते थे। करों की अदायगी, सोने के सिक्कों, पशुओं, अनाज, कच्चे माल के साथ–साथ व्यक्तिगत सेवा प्रदान करके भी की जाती थी।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में, कराधान प्रणाली को वास्तविक, व्यापक और सुनियोजित व्यवस्था प्रदान की गई। कौटिल्य द्वारा रचित अर्थशास्त्र का बहुत बड़ा भाग वित्तीय प्रशासन सहित वित्तीय मामलों को समर्पित है। राजनीति विशेषज्ञों के अनुसार, मौर्यकालीन प्रणाली में, जहाँ तक कृषि का संबंध है, भूमि का स्वामित्व एक प्रकार से राज्य के पास था और भू–राजस्व की वसूली, राज्य की आय का एक प्रमुख स्रोत थी। राज्य द्वारा कृषि उत्पादन के एक हिस्से को, जोकि आम–तौर पर कृषि उपज का छठा हिस्सा था, ही वसूल नहीं किया जाता था। वानिक उपज तथा धातुओं आदि के खनन से भी करों की वसूली की जाती थी। नमक कर भी राजस्व का एक महत्वपूर्ण स्रोत था तथा इसकी वसूली, इसकी निकासी के स्थान पर की जाती थी। कौटिल्य ने दूसरे देशों के साथ किए जा रहे व्यापार और वाणिज्य पर विस्तार से चर्चा की है और ऐसे व्यापार को बढ़ावा देने को मौर्य साम्राज्य की सक्रिय रुचि में बताया है। माल को चीन, श्रीलंका और अन्य देशों से आयात किया जाता था और देश में आयातित समस्त विदेशी माल पर 'वर्तनम' के नाम से लेवी ली जाती थी। विदेशी माल का आयात करने वाले संबंधित व्यापारी द्वारा 'दर्वोदय' नामक अन्य लेवी का भुगतान करना

होता था। इसके अतिरिक्त, कर वसूली को बढ़ाने के लिए, सभी प्रकार की नौकाओं पर शुल्क लगाया गया था। भारत के प्राचीन ग्रंथों में राजाओं के द्वारा उगाहे जाने वाले कर एवं राजस्व प्रद्धति का इस रुप में व्याख्या की गई है कि वह उसकी शासक सम्बन्धी सेवाओं का वेतन था। उनके विचारों की पुष्टि महाभारत अर्थशास्त्र शुक्रनीतिसार इत्यादि ग्रंथों से भी होती है। शासन सम्बन्धी सेवाओं के वेतन की अवधारणा प्रायः प्राचीन धर्म ग्रंथों में प्रभूत रुप से विद्यमान है। उसमें राजस्व संग्रहण के मानदण्ड और मर्यादाओं की भी पुष्कल चर्चा आई है जिसकी विस्तृत चर्चा आगे की जायेगी। यहाँ राज्य के आय की आवश्यक बिन्दु पर ही विचार किया गया है। निर्विवाद रुप से आय किसी व्यवस्था का अनिवार्य अंग है, अन्यथा किसी भी व्यवस्था को अग्रसारित किया जाता असंभव है। प्राचीन काल में प्रचलित राजस्व का विवरण वेदों में उपलब्ध है। वैदिक युग में कृषि एवं पशु सम्पत्ति से ग्रामीणों के द्वारा एक निर्धारित राशि बलि के रुप में चुकाई जाती थी। ऋग्वेद में बलि शब्द अनेक बार प्रयुक्त हुआ है जो राजा को कर या ईश्वर को आहुति देने के रुप में प्रयुक्त है। वही स्मृतियों में अनिवार्य भुगतान बन गया है। वेदों के परवर्ती और स्मृतियों के पूर्ववर्त्ती धर्म सूत्रकरों ने भी धर्मसूत्रों में राजस्व के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किए हैं। धर्मसूत्र में वर्णित राजस्व व्यवस्था को स्थापित बीज स्वरुप व्यवस्था मानी जा सकती है। गौतम सूत्रकार ने कृषि जन्य उपज पशु हिरण्य विक्रयपण्य पर राजा की रक्षा करने के कारण प्रावधान किया है। कृषकों से प्राप्त राशि को बलि तथा विक्रय वस्तु से प्राप्त कर की राशि को शुल्क कहा है।

वशिष्ट धर्मसूत्रकार ने भी राजा से अपनी सम्पति का आठवां भाग राजा को देना न्यायोचित माना है। भूमि की मालगुजारी के निर्धारण में पैमाइश का महत्व था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी भूमि के पैमाइश का प्रसंग आया है। जिस तरह से आज भूराजस्व का निर्धारण भूमि के सर्व पर आधारित है उसी प्रकार प्राचीन काल में भी पैमाइश के द्वारा ही भूमि की गुणवत्ता जिसके आधार पर भू लगान का निर्धारण किया जाता था वह आज भी प्रासंगिक है।

कौटिल्य ने स्पष्ट किया है कि राज्य कर आदि की अधिकारिणी है तो उसे अपने कर्त्तव्य में न चुकने को निर्देश भी है, अन्यथा प्रजा राजा को धमकी देती थी हम तुम्हारा देश छोड़कर शत्रु राजा के देश में चले जायेंगे। दूसरे शब्दों में प्रजा राजा को धमकी देती थी कि हम तुम्हारे प्रति निष्ठा छोड़कर दूसरे राजा के प्रतिनिष्ठावान होंगे। शुक्र नीति में राजकर के दैविक सिद्धान्त का समर्थन किया गया है। उनका कथन है कि राजा के पालनार्थ ब्रह्मा ने राजा को सेवक बनाया है। प्रजा से निरन्तर उनकी रक्षा एवं पालन करने के प्रतिदान में राजा को राजकर मिलता है। भारत के प्राचीन ग्रंथों में राजाओं के द्वारा उगाहे जाने वाले कर एवं राजस्व प्रद्धति का इस रुप में व्याख्या की गई है कि वह उसकी शासक सम्बन्धी सेवाओं का वेतन था। उनके विचारों की पुष्टि महाभारत अर्थशास्त्र शुक्रनीतिसार इत्यदि ग्रंथों से भी होती है। शासन सम्बन्धी सेवाओं के वेतन की अवधारणा प्रायः प्राचीन धर्म ग्रंथों में प्रभूत रुप से विद्यमान है। ऋग्वैदिककाल में राज्य एवं राजा दोनों का अस्तित्व था। ऋग्वैदिक आर्यों का समाज अनेक कबीलों (जनों) के रूप में संगठित था। कबीले के लोगों ने अपने में से सबसे शक्तिशाली व्यक्ति को अपना राजा चुना। राजा अपने कबीले की रक्षा करता था और अन्य कबीलों के विरूद्ध युद्ध में विजय प्राप्त करता था। बदले में कबिले के लोग अपने राजा को अनाज पशु आदि के रूप में स्वैच्छिक अंशदान करते थे। इसलिए राजा को बलिहृत कहा गया है और इस स्वैच्छिक अंशदान को बलि कहा गया है। इसकी पुष्टि ऋग्वेद के एक मन्त्र से होती थी, जिसमें राज्याभिषेक के सन्दर्भ में कवि यह प्रार्थना करता हुआ पाया जाता है कि इन्द्र प्रजाजनों (विशों) से राजा को बलि दिलवाये।

जीमर का मानना है कि यदि बलि ऐच्छिक अंशदान न होकर कानून द्वारा नियत आय होती तो उपर्युक्त कथन अर्थहीन होगा। दूसरी ओर मैकडॉनल और कीथ का मानना है कि बलि प्रारम्भ से ही एक नियमित कर था, क्योकि छोटे कबिलाई राज्य भी स्वैच्छिक चन्दों से नहीं चल सकते थे। लेकिन आदिम समाजों के विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया को देखते हुए यह अधिक सम्भव प्रतीत होता है कि बलि जिसका स्वरूप प्रारम्भ में ऐच्छिक था, आगे चलकर अनिवार्य भुगतान में परिणत हो गई। इस काल में बलि नियमित कर का रूप तो नहीं ले पाया, लेकिन इसमें कुछ बाध्यता अवश्य रहीं होगी। ऋग्वेद में ऐसे उद्धरण भी मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता हे कि जिन 'जनो' (कबीलों) को युद्ध में पराजित किया जाता था, उन्हें बलि या भेंट देने के लिए विवश किया जाता था। इसकी पुष्टि ऋग्वेद के एक मन्त्र से होती है, जिसमें अग्नि को सम्बोधित एक सूक्त में देव की उपलब्धियों की प्रशंसा करता हुआ कवि कहता है कि उसने राजा नहुष को बलि देने के लिए प्रजाजनों को बाध्य किया। इन्द्र को सम्बोधित एक अन्य सूक्त में देवों द्वारा प्राप्त एक विजय के सन्दर्भ में कहा गया है कि तीन विशिष्ट नामांकित देशों ने घोड़े का सिर बलि के रूप में उसे दिया था। इन अवतरणों से स्पष्ट है कि राजा द्वारा विजित शत्रुओं से बलपूर्वक कर ग्रहण का निर्देश दिया गया है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि विजय में घोड़े का सिर बलि के रूप में दिया जाता था। इस प्रकार ऋग्वैदिक काल में राजा के कबीले के लोग अपनी इच्छा से बलि 'कर' देते थे और पराजित शत्रुओं को बलि देने के लिए विवश किया जाता था। एक उपमा में ऋग्वेद में राजा को प्रजा को खा जाने वाला कहा गया है, इसका अर्थ प्रजा पर अत्याचार करने वाला नहीं है, अपितु इसका अभिप्रायः यह है कि राजा अपने व्यय के लिए प्रजा पर निर्भर होता है। इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि जैसे–जैसे राज्य की संस्था स्थापित हुई तथा राज्य की आधारशिला स्थापित हुई।

प्राचीन उज्जयिनी का शैक्षणिक परिवेश

गोपाल माथुर

सातवीं सदी में उज्जैन का राजा हर्ष विक्रमादित्य था। यह भी विद्वानों का आश्रय दाता और स्वयं विद्वान था। इसने नाट्य वर्तिका के साथ ही रत्नावली, प्रियदर्शिकादि नाटिकाएँ भी रची थी और वेतालपंचविंशति की एक कथा के आधार पर नाटक नागानंद लिखा था। इसके आश्रित धर्म अध्यक्ष हरि स्वामी ने शतपथ ब्राह्मण की श्रुत्यर्थविवृत्ति लिखी थी। भर्तृमेण्ठ, मातृगुप्त आदि प्रसिद्ध साहित्यकार भी इसके मित्र थे। इस प्रकार उज्जयिनी में पूरी तरह साहित्यिक वातावरण था, इन्हीं दिनों बाणभट्ट ने उज्जयिनी के शिप्रातट पर दुर्ग के समान प्रसिद्ध विद्या मंदिर की चर्चा की है। कादंबरी में वर्णित यह विद्या मंदिर विविध विधाओं को अर्जित करने का महत्वपूर्ण केंद्र था। इसमें ही राजकुमार चंद्रपीड़ आदि ने शस्त्र और शास्त्र का ज्ञान प्राप्त किया था। उज्जयिनी के नरवाराधीश तारापीड़ ने नगर से आधा कोस की दूरी पर शिप्रा के तट पर विशाल तथा चूने से पुता आकार में हिमशिखर सा प्रतीत होने वाला विद्या मंदिर बनवाया।

यह प्राकार बाहर परिख से घिरा था। इस प्राकार में मजबूत कपाट लगे थे। बाहर आने जाने के लिए एक द्वार खुला रहता था। एक ओर घोड़े तथा रथ रखने के लिए स्थान था और व्यायामशाला थी। पूरा भवन देवभवन सा लगता था। राजा ने विभिन्न विद्या के आचार्यों को एकत्र करने में विशेष यत्न किया था। वहाँ पिंजरे में सिंह शावक के समान राजकुमार चन्द्रापीड़ को घेर दिया गया। वहाँ आचार्य के साथ ही उनके कुल के पुत्र थे। बच्चों का ध्यान बटाने वाले खेलकूद के सभी साधन वहाँ से हटा दिये गए। जिससे वे एकाग्रचित्त से स्वाध्याय कर सकें। ऐसे वातावरण में राजा–रानी ने आचार्यों को अपने राजकुमार चन्द्रपीड़ को सौंप दिया। राजा अपनी रानी सहित नित्य जाकर अपने राजकुमार को देख लेता था। चन्द्रापीड़ ने भी एकाग्र चित्त हो उसी अनुशासन में रहते हुए यथासमय अपनी समता प्रकट करते हुए आचार्यों से समस्त विद्याओं को ग्रहण किया। छात्र की विशेष योग्यता के कारण उन आचार्यों में शिक्षा प्रदान करने का भी अतिरिक्त उत्साह था। यह शिक्षा इन विभिन्न विषयों में प्रदान की गई। पद, वाक्य, प्रमाण, धर्मशास्त्र, राजनीति, व्यायाम, आयुष, रथ, अश्व, वीणा–वेणु, मरजादि विविधि वाद्य, भरत के नाट्य एवं नृत्य गायन, समुद्रशास्त्र, चित्रकला, विविध यंत्र, पुस्तक लेखन, अक्षर–विद्या, द्युतकला, गन्धशास्त्र, पक्षियों के बोली को पहचानना, ग्रह गणित, रत्न परीक्षा, काष्ठकर्म, हाथीदांत का काम, वास्तुविद्या, आयुर्वेद, मंत्र–प्रयोग, विषापहरण, सुरंग बनाना, तैरना, कूदना, छलांग लगाना, चढ़ाई, रतिशास्त्र, इन्द्रजाल, कथा, नाटक, आख्यायिका, काव्य महाभारत–पुराण–इतिहास–रामायणादि सभी लिपियाँ, देश–देश की भाषाएँ, नाम विविध, शिल्प, छन्द और अन्य भी विविध कलाओं में चन्द्रापीड़ ने कुशलता अर्जित की थी। स्पष्ट ही बाणभट्ट के युग में इन विविध विद्याओं को अर्जित करना छात्रों का आदर्श रहा था। इससे उसका सर्वांगीण विकास होता था। शिक्षा का विशेष स्तर होने से उज्जैन में विद्वानों और चिन्तकों का केन्द्र था। इसीलिए यहाँ कवियों की समय–समय पर काव्य–परीक्षा होती रहती थी। राजशेवर कहता है कि उज्जैन में काव्य परीक्षा की बात सुनी जाती है – श्रूयते चोज्जयिन्यं काव्यकारपरीक्षा। यहाँ कालिदास मेण्ठ, अमर रूप सूर, भारवी, हरिश्चंद्र, चंद्रगुप्त आदि की भी काव्य परीक्षा हुई थी। इह कालिदासमंथावतारम्भरूपसूरभावरू। हरिचन्द्रचन्द्रगुप्तौ परीक्षितविः विशालायम्।।

मुंज और भोज की राजसभा में भी विद्वानों का सम्मान होता रहा। भोज स्वयं बहुत बड़े विद्वान थे और कहा जाता है कि उन्होंने धर्म, खगोल विद्या, कला, कोशरचना, भवननिर्माण, काव्य, औषधशास्त्र आदि विभिन्न विषयों पर पुस्तकें लिखी हैं जो अब भी विद्यमान हैं। इनके समय में कवियों को राज्य से आश्रय मिला था। इनकी विद्वता के कारण जनमानस में एक कहावत प्रचलित हुई– कहाँ राजा भोज, कहाँ गांगेय, तैलंग। ध ाार में भोज शोध संस्थान में भोज के ग्रन्थों का संकलन है। भोज रचित 84 ग्रन्थों में दुनिया में केवल 21 ग्रन्थ ही शेष है। भोज बहुत बड़े वीर, प्रतापी, और गुणग्राही थे। इन्होंने अनेक देशों पर विजय प्राप्त की थी और कई विषयों के अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया था। ये बहुत अच्छे कवि, दार्शनिक और ज्योतिषी थे। सरस्वतीकण्ठाभरण, शृंगारमञ्जरी, चम्पूरामायण, चारुचर्या, तत्वप्रकाश, व्यवहारसमुच्चय आदि अनेक ग्रन्थ इनके लिखे हुए बतलाए जाते हैं। इनकी सभा सदा बड़े–बड़े पंडितों से सुशोभित रहती थी।

भोज का यश भारत के एक सिरे से दूसरे तक फैला हुआ है। भारतवासियों के मतानुसार यह नरेश स्वयं विद्वान और विद्वानों का आश्नयदाता था। इसी से हमारे यहाँ के अनेक प्रचलित किस्से–कहानियों के साथ इसका नाम जुड़ा हुआ मिलता है। राजा भोज यह राजा परमार वंश में उत्पन्न हुआ था। यद्यपि इस समय मालवा के परमार अपने को विक्रम संवत् के चलाने वाले प्रसिद्ध नरेश विक्रमादित्य के वंशज मानते हैं। युक्तिकल्पतरु नामक ग्रन्थ राजा भोज के समस्त ग्रन्थों में अद्वितीय है। इस एक ग्रन्थ में अनेक विषयों का समाहार है। राजनीति, वास्तु, रत्नपरीक्षा, विभिन्न आयुध, अश्व, गज, वृषभ, महिष, मृग, अज–श्वान आदि पशु–परीक्षा, द्विपदयान, चतुष्पदयान, अष्टदोला, नौका–जहाज आदि के सारभूत तत्वों का भी इस ग्रन्थ में संक्षेप में सन्निवेश है। विभिन्न पालकियों और जहाजों का विवरण इस ग्रन्थ की अपनी विशेषता है। विभिन्न प्रकार के खड्गों का सर्वाधिक विवरण इस पुस्तक में ही प्राप्त होता है।

पुस्तक चर्चा/मिथिलेश यादव

हिन्दू धर्म के इतिहास पर एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ

'धर्म' शब्द संस्कृत भाषा का ऐसा शब्द है जिसका प्रयोग बड़े ही व्यापक अर्थों में होता आया है। धर्म वस्तुतः उन गुणों का जीवन्त समवाय है जिनके आधार पर वस्तु 'धृत' है अर्थात् टिकी है तथा जो वस्तु द्वारा 'धारण' किये जाते हैं अर्थात् जो वस्तु के स्वाभाविक मूल गुण हैं। इस प्रकार धर्म ही पहचान भी है और अस्तित्व भी है। धर्म का सम्बन्ध उन क्रिया संस्कारों से है जिनसे मनुष्य अनुशासित होता है। प्राचीन काल में धर्म सम्बन्धी धारणा बड़ी व्यापक थी और मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को स्पर्श करती थी। वास्तव में धर्म किसी सम्प्रदाय या मत का द्योतक नहीं है प्रत्युत यह जीवन का एक ढंग या आचरण संहिता है जो समाज के किसी अंग एवं व्यक्ति के रूप में मनुष्य के कर्मों एवं कृत्यों को व्यवस्थित करता है, उसमें क्रमशः विकास करता हुआ उसे मानवीय अस्तित्व के लक्ष्य तक पहुँचने के योग्य बनाता है। हिन्दू धर्म उपासना की पद्धति मात्र नहीं है, वह एक समग्र जीवन दर्शन एवं व्यवहार प्रक्रिया है। उसमें सकारात्मक स्वीकृतियों के साथ निषेधात्मक पक्षों के उन्नयन की गम्भीर दृष्टि और उस पर आधारित समय–समय पर विकसित होते हुए जीवन के सभी क्षेत्रों के विधान हैं, जिन्हें 'शास्त्र' कहा जाता है। "धर्मशास्त्र का इतिहास" भारतरत्न डॉ. पांडुरंग वामन काण द्वारा रचित हिन्दू धर्मशास्त्र से सम्बद्ध एक इतिहास ग्रन्थ है। पाँच भागों में प्रकाशित यह ग्रन्थ भारतीय धर्मशास्त्र का विश्वकोश है।

डॉ. काणे ने अथक लगन और परिश्रम से इस ग्रंथ का निर्माण किया। डॉ. काणे संस्कृत के विद्वान् एवं प्राच्यविद्या विशारद थे। भारत की अति प्राचीन वैदिक भाषा के रूप में यदि आज संस्कृत को विश्व की सभी भाषाओं की जननी माना जाता है और भारत की अति प्राचीन धर्म संस्कृति को यदि विश्व भर में बड़े सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है, तो उसमें महान् भारतीय संस्कृतज्ञ और विद्वान् डॉ. काणे के अमूल्य योगदान को कभी भी भुलाया नहीं जा सकता। डॉ. काणे का सबसे बड़ा योगदान उनका विपुल साहित्य है, जिसकी रचना में उन्होंने अपना महत्त्वपूर्ण जीवन लगाया। वे अपने महान् ग्रंथों– 'साहित्य शास्त्र' और 'धर्मशास्त्र' पर सन् 1906 से कार्य कर रहे थे। इनमें 'धर्मशास्त्र का इतिहास' सबसे महत्वपूर्ण और प्रसिद्ध है। इसमें ई.पू. 600 से लेकर 1800 ई. तक की भारत की विभिन्न धार्मिक प्रवृत्तियों का प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। अंग्रेजी में इसका प्रथम भाग 1930 में प्रकाशित हुआ तथा अन्तिम भाग 1965 में। इसके अंतिम अध्याय में विवेचन–क्रम में ही स्पष्टतः वर्तमान समय के रूप में 1965 ई. का उल्लेख है, जिससे यह

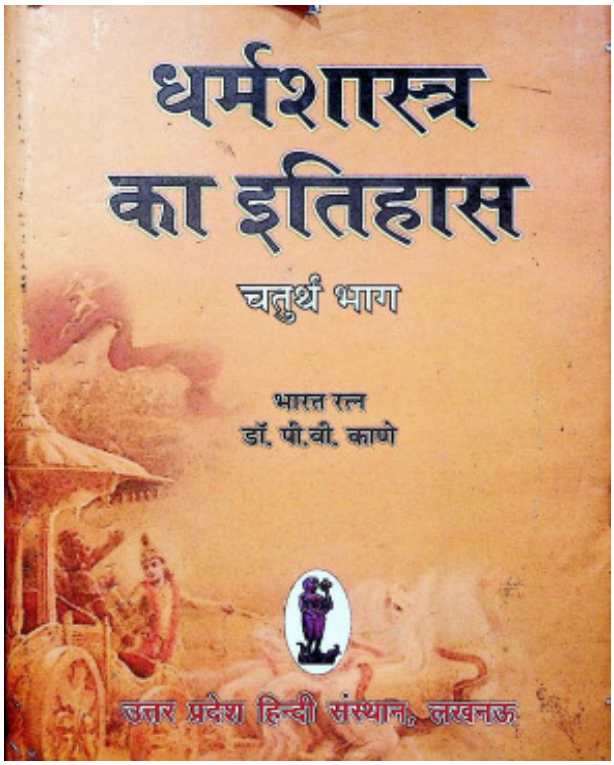

स्वतः प्रामाणित है कि इसका लेखन 1965 ई. में सम्पन्न हुआ है। इसके आरंभ में प्रसिद्ध एवं महत्वपूर्ण ग्रंथों तथा लेखकों का काल निर्धारण दिया गया है, जिसमें वैदिक काल (4000 ई.पू.) से लेकर 19वीं सदी के आरंभ तक के ग्रंथों एवं लेखकों को सम्मिलित किया गया है। सभी खंडों के अंत में शब्दानुक्रमणिका भी दी गयी है। इसके प्रथम खंड में धर्म का अर्थ निरूपण के पश्चात् प्रायः सभी प्रमुख धर्म शास्त्रीय ग्रंथों का निर्माण–काल एवं उनकी विषय–वस्तु का विवेचन किया गया है। इसके प्रथम खण्ड में समाहित द्वितीय खंड में धर्मशास्त्र के विविध विषयों जैसे वर्ण, अस्पृश्यता, दासप्रथा, संस्कार, उपनयन, आश्रम, विवाह, सती–प्रथा, वेश्या, पंचमहायज्ञ, दान, वानप्रस्थ, सन्यास, यज्ञ आदि का शोधपूर्ण विवेचन किया गया है। द्वितीय खण्ड में राजधर्म के अंतर्गत राज्य के सात अंगों, राजा के कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व, मंत्रिगण, राष्ट्र, दुर्ग, कोश, बल, मित्र तथा राजधर्म के अध्ययन का उद्देश्य एवं राज्य के ध्येय पर शोधपूर्ण विवेचन उपस्थापित किया गया है। इसके बाद व्यवहार न्याय पद्धति के अंतर्गत भुक्ति, साक्षीगण, दिव्य, सिद्धि, समय (संविदा), दत्तानपाकर्म, सीमा–विवाद, चोरी, व्यभिचार आदि का धर्मशास्त्रीय निरूपण उपस्थापित किया गया है।

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ, स्वराज संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन के लिए बिड़ला भवन, देवास रोड, उज्जैन-456010 से प्रसारित. सम्पादक : श्रीराम तिवारी, समन्वयक : राजेश्वर त्रिवेदी.

आलेख सेवा निःशुल्क वितरण के लिए. फोन: 0734-2521499, 0755-2660407 Email:mvspujjain@gmail.com, vikramadityashodhpeeth@gmail.com